INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL
ISSN NO : 2230-7850
IMPACT FACTOR : 5.1651 (UIF)
VOLUME - 15 | ISSUE - 5 | JUNE – 2025

शुंग कालीन आर्थिक स्थितिः एक ऐतिहासिक विश्लेषण

Manish[1] and Dr. Neelam Rani[2]
[1]Ph.D Research Scholar, Department of History, BMU, Asthal Bohar, Rohtak.
[2]Associate Professor, Department of History, BMU, Asthal Bohar, Rohtak.

सारांश

प्राचीन काल से ही समाज की प्रगति का मूल आधार आर्थिक जीवन की समृद्धि रहा है। किसी व्यक्ति का भौतिक और सांसारिक सुख उसकी आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर करता है। यद्यपि समय के साथ मानव की आवश्यकताएँ परिवर्तित होती रही हैं और उनके अनुरूप आर्थिक कार्यक्रमों में भी बदलाव आया है, फिर भी आर्थिक जीवन की आधारभूत संरचना सदैव स्थिर बनी रही है। आज का समाज भी उन्हीं परंपरागत आर्थिक मूल्यों पर टिका हुआ है। परिस्थितियों के अनुसार कृषक, शिल्पकार, उद्योगपति और व्यापारी वर्गों ने अपने–अपने ढंग से आर्थिक नीतियों का पालन किया। इसके बावजूद समाज में आर्थिक गतिविधियों की प्रेरणा बनी रही, जिससे समाज को निरंतर मजबूती और स्वच्छता प्राप्त होती रही। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है, जिसमें राज्य के धन–संग्रह, वितरण और प्रबंधन से जुड़ी नीतियों का अध्ययन किया जाता है।[1] प्राचीन समय में इसका उद्देश्य राज्य की स्थापना, प्रजा की रक्षा और समृद्धि सुनिश्चित करना था। समय के साथ विद्वानों ने इसमें सुधार की आवश्यकता अनुभव की और परिणामस्वरूप 'वार्ताशास्त्र' नामक एक नई शाखा का विकास किया गया, जो अर्थव्यवस्था के अधिक व्यावहारिक पक्षों पर बल देती थी।

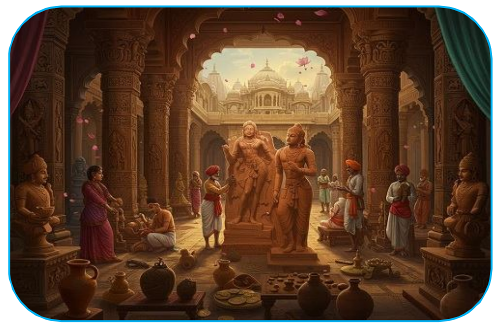

बीज शब्द : शुंग वंश, अर्थव्यवस्था, कृषि एवं सिंचाई, बीज की बुवाई, वाणिज्यिक वर्गों की श्रेणियाँ, विनिमय एवं मापतौल, व्यापार–वाणिज्य।

परिचय : प्राचीन भारतीय विचारकों ने मानव जीवन की पूर्णता के लिए 'पुरुषार्थ' की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार मुख्य उद्देश्य माने गए। इनमें 'अर्थ' का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह भौतिक सुखों की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। 'अर्थ' न केवल आर्थिक संसाधनों का संग्रह है, बल्कि यह मनुष्य की भौतिक इच्छाओं की पूर्ति और संतुष्टि का प्रतीक भी है।[2] भारतीय चिंतन में सांसारिक जीवन का आधार अर्थ को माना गया है। यही कारण है कि इसे मानव जीवन के प्रमुख उद्देश्यों में एक माना गया है।

कृषि एवं सिंचाई : शुंगकाल (द्वितीय शताब्दी ई.पू.) में भारत की अर्थव्यवस्था का आधार कृषि थी। इस काल में कृषक समाज की रीढ़ थे और कृषि को विशेष महत्व प्राप्त था। शुंग शासकों ने कृषि योग्य भूमि के विस्तार तथा कृषकों के कल्याण हेतु उपाय किए। तत्कालीन साहित्य, विशेष रूप से मनुस्मृति और पाणिनि तथा पतंजलि के

[1] गुप्तदेवेन्द्र कुमार, प्राचीन भारत में व्यापार, पृ० 1

[2] पाणिनीकृत अष्टाध्यायी, 4.1.42

ग्रंथों से ज्ञात होता है कि इस काल में हल की सहायता से भूमि जोती जाती थी और बैलों का उपयोग प्रमुख रूप से होता था। खेतों को समतल करने के लिए कुदाल और फावड़े जैसे उपकरणों का प्रयोग होता था। शुंग युग में प्रमुख फसलेंकृधान, जौ, गेहूँ, तिलहन, कपास एवं गन्नाकृथीं। कुछ क्षेत्रों में दोहरी फसलें भी ली जाती थीं। कृषि उत्पादन की समृद्धि का अनुमान उस समय के व्यापारिक विकास से भी लगाया जा सकता है।[3] सिंचाई की दृष्टि से भी शुंग काल में अनेक प्रगतियां हुईं। यद्यपि वर्षा पर निर्भरता अधिक थी, फिर भी कुओं, नहरों तथा कृत्रिम जलाशयों के माध्यम से सिंचाई की जाती थी। चरों ओर स्थित जल स्रोतों का यथासंभव उपयोग किया जाता था। जल संग्रहण हेतु जलकुंडों व बावड़ियों का निर्माण कराया जाता था। इस काल में कृ षि योग्य भूमि को निर्जन स्थानों से जोड़ने और जंगलों की सफाई कर कृषि विस्तार की नीतियाँ अपनाई गईं। कुल मिलाकर शुंग काल कृषि एवं सिंचाई की दृष्टि से एक विकसित एवं संगठित युग था, जिसमें परंपरा और तकनीक का संतुलित विकास हुआ।[4]

बीज की बुवाई : शुंगकालीन कृषि व्यवस्था में बीज की बुवाई एक महत्वपूर्ण चरण था, जिसे भूमि की गहन जोताई के पश्चात सम्पन्न किया जाता था। उस समय 'बुवाई' शब्द का प्रयोग बीजों को खेत में डालने की प्रक्रिया के लिए किया जाता था। इस प्रक्रिया को ऋतु के अनुसार समायोजित किया जाता था, जिससे फसल की उपज अधिकतम हो सके। मनु[5] ने इस संदर्भ में बीज को खेत से भी अधिक महत्व प्रदान किया है। उनका यह मत था कि यदि बीज उत्तम और शुद्ध हो, तभी कृषि सफल हो सकती है। उन्होंने वैश्यों के लिए कृषि के इस पहलूविशेष रूप से बीज बोने की विधियोंकृका ज्ञान आवश्यक बताया, जिससे स्पष्ट होता है कि कृषि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तकनीकी समझ का विकास हो चुका था।

कटाई और ढुलाई व्यवस्था : शुंगकाल में जब फसलें पूरी तरह पक जाती थीं, तब किसानों द्वारा उनकी कटाई के लिए विशेष तैयारी की जाती थी। कटाई का कार्य प्रायः किसान स्वयं करते थे, किंतु कभी–कभी वे मजदूरों की सहायता भी लेते थे, विशेषकर तब जब खेतों का क्षेत्रफल अधिक होता था या श्रम की तात्कालिक आवश्यकता होती थी। अधिकांश अनाज की कटाई दरांती जैसे औजारों से की जाती थी, परंतु कुछ विशिष्ट फसलें जैसे मूंग और उड़द आदि को पारंपरिक विधियों से जड़ सहित उखाड़ा जाता था। इस विधि को "उन्मूलन" कहा जाता था, जो विशेषकर उन दालों के लिए उपयुक्त मानी जाती थी जिनकी जड़ें भी उपयोगी होती थीं या जो मिट्टी में अधिक गहराई तक नहीं फैलती थीं। कटाई के पश्चात फसल को ढोकर खलिहान या द जीतर्मीपदह हतवनदक तक ले जाया जाता था, जहाँ उससे अन्न अलग किया जाता था।[6] इस ढुलाई कार्य के लिए बैलगाड़ियों, खच्चरों या मानव श्रम का प्रयोग किया जाता था।

पशुपालन : पशुपालन एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं व्यापक रूप से प्रचलित व्यवसाय था। तत्कालीन साहित्यिक[7] स्रोतों से यह स्पष्ट होता है कि समाज के लोग पशुओं के पालन–पोषण के आर्थिक एवं सामाजिक महत्व को भलीभांति समझते थे। उस समय की उपजाऊ भूमि और अनुकूल जलवायु ने पशुपालन को और भी सहज तथा समृद्ध बना दिया था। चूँकि जनसंख्या अपेक्षाकृत कम थी, इसलिए चारागाहों की कमी नहीं थी; ये चारागाह वर्तमान समय की तुलना में न केवल आकार में बड़े थे, बल्कि अधिक विस्तृत और घने भी रहे होंगे। इन खुले मैदानों में घास चरने वाले पशु, जैसे गाय, बैल, बकरी आदि, स्वतंत्र रूप से घूमते और चरते थे। पेड़ों की हरी–भरी पत्तियाँ और घनी घास उनके लिए पर्याप्त आहार का स्रोत बनती थीं। इस प्रकार, शुंग काल में पशुपालन केवल आजीविका का साधन ही नहीं, बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रीढ़ भी था।

---

[3] सरिता कुमारी, रोल ऑफ स्टेट इन एंसियंट इकोनामी, पृ० 53

[4] चौधरी राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पृ० 95

[5] मनुस्मृति, 4.67.68

[6] अग्निहोत्रि, पूर्वोद्धत, पृ0 265

[7] महाभाष्य, 1.8.72

माप–तौल प्रणाली : प्राचीन भारत की आर्थिक संरचना में माप–तौल प्रणाली का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। व्यापारिक लेन–देन में संतुलन बनाए रखने और वस्तु विनिमय को न्यायसंगत बनाने हेतु माप–तौल की स्पष्ट आवश्यकता अनुभव की गई। आरंभिक काल में वस्तुएँ अनुमान या आँखों के हिसाब से दी जाती थीं, जिससे लेन–देन में अक्सर असमानता उत्पन्न हो जाती थी। इसी व्यावहारिक समस्या को दूर करने के लिए क्रमशः एक सटीक और व्यवस्थित माप–तौल प्रणाली का विकास हुआ। इस प्रणाली के स्थापित होने से व्यापार में वस्तुओं की मात्रा को निश्चित किया जा सका, जिससे उनके मूल्य निर्धारण में भी पारदर्शिता और स्थिरता आई। उल्लेखनीय है कि माप–तौल की यह व्यवस्थित प्रणाली भारतीय मुद्रा प्रणाली के उद्भव से भी प्राचीन मानी जाती है, यद्यपि इसके प्रारंभिक स्वरूप का इतिहास आज भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है।[8] माप–तौल व्यवस्था के प्राचीनतम प्रमाण हमें सिंधु घाटी[9] सभ्यता से प्राप्त होते हैं, जहाँ व्यापारिक उपयोग के लिए पत्थर से निर्मित भारों का प्रयोग किया जाता था। यह दर्शाता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में माप–तौल की अवधारणा अत्यंत प्राचीन है, और यह आर्थिक प्रगति का एक आवश्यक घटक रही है। शुंग काल में द्रव्यमान मापने के लिए तुला और मान जैसे यंत्रों का प्रयोग होता था। 'तुला' उस यंत्र को कहा जाता था जिससे किसी वस्तु का भार संतुलित कर उसका माप ज्ञात किया जाता था। कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अर्थशास्त्र में स्पष्ट निर्देश दिया है कि व्यापारियों द्वारा उपयोग की जाने वाली तुलाओं और माप के उपकरणों की जांच प्रत्येक चार महीने में एक बार अवश्य की जानी चाहिए।[10] वहीं मनुस्मृति[11] में यह अवधि छह माह निर्धारित की गई है। **16** प्रकार की तुलाओं का भी उल्लेख किया है, जो उस समय भार मापन व्यवस्था की परिष्कृत अवस्था को दर्शाता है। माष उस काल का एक महत्त्वपूर्ण सिक्का था, जिसका प्रयोग केवल मुद्रा के रूप में ही नहीं, बल्कि एक विशिष्ट भार इकाई के रूप में भी होता था। यह मुख्यतः स्वर्ण और तांबे की तोल के लिए प्रयोग में लाया जाता था। सामान्यतः इसे पाँच रत्ती चाँदी के भार के बराबर माना जाता था। पाणिनि[12] द्वारा 'निरपाव' का उल्लेख किया गया है, जिसे जैन साहित्य में 'गुंजा' और 'काकिणी' के बाद दर्शाया गया है। यह अत्यंत सूक्ष्म तोलने के लिए उपयोगी था, विशेषकर स्वर्ण, चाँदी, रत्न तथा मोती जैसी कीमती वस्तुओं के लिए। 'शाण' शब्द का उल्लेख कुछ वैदिक सूत्रों में सिक्के अथवा भार माप की इकाई के रूप में मिलता है। पाणिनि[13] के अनुसार एक शाण, 'शतमान' (सौ रत्ती) का आठवाँ भाग अर्थात **12-5** रत्ती के बराबर होता था। इसे चार माषक या बीस रत्ती का भी बताया गया है। शाण का आधा भाग 'शाणार्थ' कहलाता था, जिसका उपयोग औषधियों की अत्यंत सूक्ष्म मात्रा को तौलने के लिए किया जाता था। पतंजलि[14] के समय में एक शाण का मान पाँच माषक के बराबर बताया गया है, जिससे समय के साथ इस माप की भिन्नता का संकेत मिलता है। 'विस्त' शब्द का प्रयोग किसी वस्तु के क्रय–विक्रय में प्रयुक्त इकाई के रूप में हुआ है। 'विस्त' को 'कर्ष' का पर्याय माना गया है, जिसका प्रयोग मुख्य रूप से स्वर्ण तोलने में होता था। सामान्यतः इसका माप लगभग **80** रत्ती बताया गया है, जो लगभग **22** सुवर्ण के बराबर माना जाता था। यह निष्क और कार्षापण जैसी बड़ी माप इकाइयों के समकक्ष था। कुछ भाष्यकारा[15] ने 'परमविस्त' का उल्लेख भी किया है, जो इस माप के और भी अधिक परिष्कृत रूप की ओर संकेत करता है।

---

8 अवस्थी भगवानदास, अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांत, पृ० 231

9 एस आर० राव०, लोथल ऐंड दि इंडस सिविलाइजेशन, पृ० 122

10 चौधरी राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पृ० 95

11 मनुस्मृति, 4.67.68

12 अष्टाध्यायी, 5.4.102

13 अष्टाध्यायी, 4.1.34

14 अग्रवाल वी० एस०, इंडिया ऐज नोनं टू पाणिनि, पृ० 252

15 पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 241

व्यापार और वाणिज्य : किसी भी राष्ट्र की समृद्धि का मूल आधार उसकी सुदृढ़ अर्थव्यवस्था होती है, और व्यापार उस अर्थव्यवस्था की रीढ़ माना जाता है। शुंग काल में भारत ने व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण प्रगति की, जिसके परिणामस्वरूप वह समय का एक प्रभावशाली और समृद्ध राष्ट्र बनकर उभरा। देश की उपजाऊ भूमि, अनुकूल जलवायु तथा समृद्ध प्राकृतिक संसाधनों ने व्यापारिक विकास में अत्यंत सहायक भूमिका निभाई। भारतीय जनसंख्या उस समय मेहनती, निडर और दूरदर्शी थी; उन्होंने न केवल आंतरिक व्यापार को व्यवस्थित किया, बल्कि समुद्री और थल मार्गों के माध्यम से विदेशी बाजारों तक भी अपनी पहुँच बनाई। व्यापारिक गतिविधियाँ सुनियोजित ढंग से श्रेणियों में विभाजित थीं, जिससे वाणिज्यिक व्यवस्था में सुव्यवस्था और कुशलता आई। शुंग शासकों ने व्यापार की वृद्धि हेतु नीतिगत सहायताएँ दीं, जिससे व्यापारिक वर्ग को स्थायित्व मिला और राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई। जहाँ मौर्य काल में उद्योगों और शिल्पों पर शासन का प्रत्यक्ष नियंत्रण था, वहीं शुंग युग में यह नियंत्रण शिथिल हो गया, जिससे निजी व्यापार, हस्तशिल्प और कुटीर उद्योगों को स्वतंत्र रूप से विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप, व्यापार एवं उद्योग जगत में नवाचार, विविधता और विस्तार का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है, जिसने शुंगकालीन भारत को आर्थिक दृष्टि से एक सशक्त राष्ट्र बना दिया।

वाणिज्यिक वर्गों की श्रेणियाँ : शुंग काल में वाणिज्यिक वर्गों की श्रेणियाँ दो मुख्य आधारों पर वर्गीकृत की जाती थीं, पहला, उनके व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर और दूसरा, उन वस्तुओं के आधार पर जिनका वे व्यापार करते थे। उस समय अंतरप्रांतीय (या तत्कालीन संदर्भ में कहें तो, अंतरराष्ट्रीय) व्यापार की स्पष्ट झलक भाष्य ग्रंथों[16] में प्राप्त होती है। हालांकि भारत से बाहर होने वाले व्यापार के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी सीमित है, तथापि पश्चिमी समुद्री तट पर व्यापारिक गतिविधियों की सीमा भृगुकच्छ (वर्तमान भड़ौच) तक मानी जाती है। भद्र, कश्मीर और गंधार जैसे दूरवर्ती क्षेत्रों से व्यापारिक संपर्क के प्रमाण मिलते हैं, जो तत्कालीन व्यापारिक नेटवर्क की व्यापकता को दर्शाते हैं। व्यापारियों के नामकरण में विविध कारक प्रभावी होते थे, जैसे उनकी व्यापारिक विशेषताएँ, जिन वस्तुओं का वे क्रय–विक्रय करते थे, उनकी पूँजी की संरचना, अथवा वे भौगोलिक क्षेत्र जहाँ उनका व्यापार फैला होता था। विभिन्न सूत्रग्रंथों में इन व्यापारिक वर्गों और संस्थाओं का विस्तृत विवरण मिलता है। इस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्गों द्वारा विभिन्न व्यापारिक और सामाजिक संगठनों की रचना की गई थी, जिन्हें श्रेणी, निगम, पग और सार्थक जैसे नामों से जाना जाता था। ये संगठन व्यापार की व्यवस्था, नियमन और सहयोग के उद्देश्य से कार्यरत थे और वाणिज्यिक संरचना का महत्वपूर्ण भाग बन चुके थे।

निष्कर्ष : शुंग कालीन अर्थव्यवस्था" विषयक अध्ययन के माध्यम से प्राचीन भारत की आर्थिक संरचना और उसके विविध पक्षों का विश्लेषण किया गया है। किसी भी सभ्यता की स्थिरता और समृद्धि का मूल आधार उसकी आर्थिक व्यवस्था ही होती है। भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को जीवन की दिशा निर्धारित करने वाले मुख्य स्तंभ माना गया है, जिनमें से 'अर्थ' को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति और सामाजिक संतुलन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। इतिहास केवल अतीत के राजाओं और उनके राजनीतिक कार्यों का वृत्तांत नहीं है, बल्कि अब वह सामान्य जन जीवन, उनके श्रम, उत्पादन तथा सामाजिक योगदान को भी समान महत्व देता है। आधुनिक इतिहासलेखन में यह स्वीकार किया गया है कि समाज का वास्तविक निर्माणकर्ता किसान, शिल्पकार, व्यापारी और श्रमिक वर्ग ही होता है। शुंग युग में इन्हीं वर्गों की सक्रियता और योगदान से कृषि, सिंचाई, व्यापार, मुद्रा विनिमय, और माप–तौल जैसी आर्थिक प्रणालियों में उल्लेखनीय विकास देखा गया। मौर्य काल के बाद, शुंग युग में कृषि–व्यवस्था और भी संगठित तथा उन्नत हुई। पतंजलि के महाभाष्य में उस समय के ग्रामीण जीवन, कृषि उपकरणों, और कृषक वर्ग की स्थिति का स्पष्ट चित्रण मिलता है। अतः यह स्पष्ट है कि शुंग काल में न केवल राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तनों की झलक मिलती है, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी यह काल एक महत्वपूर्ण परिवर्तन और प्रगति का दौर था। इस युग की आर्थिक गतिविधियाँ भारतीय समाज की समृद्ध विरासत और श्रमप्रधान संस्कृति का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

---

[16] महाभाष्य,1.8.72